※ श्री साधन-संकेत ※

सांख्ययोगौ पृथग्बाला प्रवदन्ति न पण्डिता ।
एकमप्यास्थित सम्यगुभयो विन्दते फलम ॥
यत्सांख्यै प्राप्यते स्थान तद्योगैरपि गम्यते ।
एक सांख्य च योग च य पश्यति स पश्यति ॥

लेखक—स्वामी विद्यातीर्थ

मूल्य } १९५९ { ५० न०पै०

प्रकाशक
श्री स्वामी विष्णुतीर्थ,
नारायण कुटी, सन्यास आश्रम,
देवास (मध्य प्रदेश)

तृतीय संस्करण—संवत् २०१५—१००० प्रति

मुद्रक
देवेन्द्र विज्ञानी
विज्ञान प्रेस, ऋषिकेश

रेरक—

स्वामी विष्णुतीर्थ

—: समर्पण :—

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णु गुरुर्देवो महेश्वरः ।
गुरुरेव परं ब्रह्म तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥

यह साधन-संकेत
श्री गुरुदेव श्री १०८ योगानन्दजी के चरण-कमलों में
समर्पण करता हूँ ।

चरणों का भक्त,
मुनिलाल स्वामी
बी॰ ए॰, एल एल॰ बी॰

पालन का नियम लेना ठीक नहीं है, केवल उन पर ध्यान रख कर अपनी क्रियाओं के अनुकूल आहार विहार की सावधानी रखनी चाहिये। शेष सब कार्य यह भगवती स्वय ही मातेव यथार्थ रूप से संपादन करती रहती है।

इस पुस्तिका में जो त्रुटियां हैं उनके लिये सब साधकों में विराजने वाली भगवती शक्ति तथा गुरुजनों से लेखक क्षमा प्रार्थना करता है।

गाजियाबाद,
माघ सुदी ११, संवत् १९९१

कृपाभिलाषी,
मुनिलाल स्वामी

---

* श्री *

द्वितीय संस्करण की प्रस्तावना

साधन संकेत को प्रथम बार प्रकाशित हुए आज प्रायः १४ वर्ष का समय हो चुका। उस समय तक इस विषय पर कोई विस्तृत ग्रंथ देखने में नहीं आया था। ऐसे किसी ग्रन्थ के अभाव में साधकों के लाभार्थ यह पुस्तिका श्री पूज्य स्वामी स्वयंज्योति तीर्थ जी की आज्ञानुसार लिखी गई थी और बिना मूल्य साधकों में इसका वितरण किया गया था। आज इस विषय पर अनेक बड़े-बड़े ग्रंथ प्रकाशित हो चुके हैं। हम भी हाल ही में अंग्रेजी में देवात्मशक्ति (Divine Power) और हिन्दी में भगवत्पाद श्रीमच्छंकराचार्य विरचित सौंदर्य लहरी पर व्याख्या,— ये दो ग्रंथ प्रकाशित किये हैं, जिनमें कुण्डलिनी शक्ति और तत्संबंधी विभिन्न विषयों पर प्रकाश डालने की चेष्टा की गई है। इसके पूर्व हम 'शक्ति-पात' नामक एक पुस्तिका और भी प्रकाशित कर चुके हैं। हृषीकेशस्थ श्री योगानन्द जी विरचित 'महायोग विज्ञान' और काशी निवासी श्री स्वामी पुरुषोत्तमतीर्थ जी विरचित 'सिद्धयोग' (योग-वाणी) भी इसी विषय के पढ़ने योग्य ग्रंथ हैं।

उक्त ग्रन्थों के सामने इस पुस्तिका का कोई विशेष अर्थ नहीं रहता, तथापि इस प्रश्न से आज भी यह अनुभव होता है कि साधकों की सामान्य प्रारंभिक जानकारी के लिये इसका स्थान पूर्ववत् ही है। इसी दृष्टि से इसका दूसरा संशोधित संस्करण साधकों के लाभार्थ छापा जा रहा है। आशा है कि साधक-जन इसका स्वागत करेंगे।

देवास,
माघ, सं० २००५ वि०

—विष्णुतीर्थ

* ॐ तत्सत् *

तृतीय संस्करण का वक्तव्य

आजकल योग-मार्ग की ओर जनता की रुचि बढ़ती जा रही है, फलतः साधन-सम्बन्धी अनेक ग्रन्थ भी अब प्राप्य होने लगे हैं। पर उन साधन सम्बन्धी ग्रन्थों में इस लघु-कलेवर पुस्तिका का अपना अलग ही महत्व है। योग साधन सम्बन्धी बृहदाकार पोथों में मोटी-मोटी, किन्तु नित्यप्रति के अभ्यास में परमावश्यक, बातें यत्र-तत्र बिखरी हुई हैं। उन्हें एकत्रित करके कहीं नहीं दिया गया और पोथों के अरण्य-जाल में से छांटकर उन्हें संकलन करना भी सहज नहीं है। इस पुस्तिका में साधन-संबन्धी वे सब बातें संकलन करके एकत्रित कर दी गई हैं जो साधक को जाननी-समझनी परमावश्यक हैं। इससे साधकों को थोड़े ही श्रम में बड़ी सहायता प्राप्त होती है और यही इस पुस्तिका की विशेषता है।

श्री स्वामी जी महाराज की सिद्धहस्त लेखनी से निःसृत यह पुस्तिका साधकों के लिये प्रारम्भिक जानकारी का वरदान सिद्ध हुई है, जिसके लिए साधक-समाज श्री स्वामी जी महाराज का ऋणी रहेगा।

हर्षीकेश,
बसन्त पंचमी, सं० २०१८ — देवेन्द्र विज्ञानी

* ॐ नारायण *

आमुख

मंत्रो लयो हठो राजयोगोऽन्तर्भूमिकाः क्रमात् ।
एक एव चतुर्धाऽयं महायोगोऽभिधीयते ॥
(योगशिखोपनिषत्)

अर्थ—मंत्र, लय, हठ और राजयोग,—ये क्रमशः अन्त-भूमिकाएँ जिसकी हैं, वह एक ही महायोग इस प्रकार से चार भेद से चतुर्धा कहा जाता है।

इस महायोग का वर्णन मुख्य उपनिषदों में संकेत मात्र से और प्रकीर्ण उपनिषदों में विस्तीर्ण रूप से पाया जाता है। किन्तु यह छोटी सी पुस्तिका इसकी मीमांसा के लिए नहीं वरन् साधकों की सूचना के रूप में केवल संकेत मात्र है। इस योग को सिद्ध योग अथवा सहज योग भी कहते हैं। ऐसा कहना यथार्थ है, क्योंकि इसमें शिष्य को तो केवल गुरु प्रदत्त शक्ति के द्वारा द्रष्टा बनकर, उपर्युक्त चारों योगों की भूमिका, जो सहज रूप में उसके तीनों शरीरों, पंचकोषों एवं तीनों अवस्थाओं में स्वाभाविक अनुभव में आता है, देखते रहना है। श्रद्धा (faith) के साथ अग्रसर होने पर आत्म प्रतीति होने लगती है और श्रद्धा जब निष्ठा (conviction) के रूप में परिणित होती है, तब साधक निश्चिन्त चित्त से कृत कृत्य होकर, राजयोग के

अभ्यास द्वारा तन्न निष्ठ होता है। यही आत्मज्ञान की चरम भूमिका है।

योग दर्शन और वेदान्त दर्शन का सिद्धात विषयक भेद है, किन्तु योग और ज्ञान का साधन विषयक भेद नहीं है। इसीलिये चित्त की निरुद्ध अवस्था के लिये और निरोध द्वारा विक्षेप को दूर करने के लिये वेदान्त शास्त्र के ग्रन्थों मे सर्वत्र योग को साधन रूप माना है। साधक को चाहिये कि योग और ज्ञान विषयक ग्रंथों का श्रवण मनन कर और योग की सहायता लेकर निदिध्यासन द्वारा समाधि लाभ करके योग और ज्ञान की एकवाक्यता का अनुभव कर।

इस पुस्तिका मे जो सूचना दी गई है, उसको अप्रमत्त होकर पालन करो, क्रिया द्वारा जो लक्षण दिखाई दे उनसे उत्साह को बढ़ाओ और मानव जीवन की सार्थकता सिद्ध करो। श्रद्धा रखो कि मंगलमय भगवान् सदा सर्वदा तुम्हारे हृदयाकाश मे पथ प्रदर्शक और रक्षक के रूप मे विराजमान् है।

ज्ञान साधना आश्रम,
छोटा उदयपुर,
(पूर्व गुजरात)
२८ १ ३५

—स्वयज्योति तीर्थ

* साधन-संकेत *

(१) ज्ञान के लिये योग की आवश्यकता

मनुष्य जन्म का ध्येय मोक्ष प्राप्ति है। 'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः'—बिना ज्ञान के मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती। बिना योग के ज्ञान भी मोक्षप्रद नहीं होता और योग भी बिना ज्ञान के निष्फल है।

> योगहीनं कथं ज्ञानं मोक्षदं भवतीह भो।
> योगोऽपि ज्ञान हीनस्तु न क्षमो मोक्ष-कर्मणि।
> तस्माज्ज्ञानं च योगं च मुमुक्षुर्दृढमभ्यसेत्॥ (योग शिखो०)

अर्थ—हे ब्रह्मन्! बिना योग के इस संसार में ज्ञान कैसे मोक्ष दे सकता है? और योग भी बिना ज्ञान के मोक्ष दिलाने की क्षमता नहीं रखता। इसलिये मुमुक्षु ज्ञान और योग दोनों का दृढ़ अभ्यास करे।

> बहुव्याकुलचित्तानां विचारात्तत्त्वधीर्नहि।
> योगो मुख्यस्ततस्तेषां धीदर्पस्तेन नश्यति॥
> (पंचदशी—ध्यान दीप ६ १.२)

अर्थ—व्याकुल चित्त वालों को विचार से ही तत्त्वज्ञान नहीं होता, इसलिये उनके लिये योग मुख्य साधन है, जिससे चित्त की व्याकुलता एवं बुद्धि दोष नष्ट होते हैं।

आत्मज्ञान को ही ज्ञान कहते हैं। "ज्ञानं यत् निज रूपं

कैवल्य परमं पदं" । जिसने अपना निज रूप जान लिया वही कैवल्य पद है । मनुष्य आत्मा को नहीं जानता, वह शरीर को ही अपना स्वरूप समझता है । देह में उसका देहाभिमान इतना दृढ़ हो गया है कि देह से पृथक् आत्मा की सत्ता का अनुभव अपनी जीवनचर्या में उसको कभी भी नहीं होता । यदि कभी देह से पृथक् होता भी है, तो मन या बुद्धि को ही आत्मा समझने लगता है । देह नश्वर है, मन बुद्धि दोनो क्षण क्षण मे बदलते रहते हैं । आत्मा सदा एक रूप, एक रस, आनन्दस्वरूप है, वह कभी बदलता नहीं और न कभी नष्ट होता है । वह अपने को देहाभिमानी मान कर मृत्यु से डरता है, यद्यपि देह के नाश के साथ उसका नाश नहीं होता, मन और बुद्धि के भ्रंश होने से आत्मा पर कोई असर नहीं आता । मन के सहयोग से वह दु ख-सुख का अनुभव करता है तथा नाना प्रकार की वासनाओं के जाल मे फंसा रहता है और सदा इनसे मुक्त होकर परम शान्ति की इच्छा करता है । देह, मन और बुद्धि से आत्मा को पृथक् करने के साधन को योग कहते हैं ।

"तदा द्रष्टु स्वरूपेऽवस्थानम्" (पातञ्जलदर्शन १ ३)

अर्थ—तब द्रष्टा की अपने स्वरूप मे स्थिति होती है ।

नोट—आत्मा को द्रष्टा (देखने वाला) कहते हैं, जगत् को दृश्य और अन्त करण तथा बाह्यकरण (पांच ज्ञानेन्द्रियां) को दर्शन अर्थात् देखने के साधन कहते हैं । द्रष्टा और दृश्य का सम्बन्ध विषयी (subject) और विषय (object) की अपेक्षा से सापेक्षिक (relative) है ।

त स्वच्छरीरात्प्रवृहेन्मु आदिनेषीका धैर्येण ।
तं विद्याच्छुक्रममृतं तं विद्याच्छुक्रममृतमिति ॥ (कठोपनिषत्)

अर्थ—उस (आत्मा) को अपने शरीर से धैर्य के साथ अलग कर,—जैसे मूंज से सींक अलग की जाती है। उसी को अविनाशी अमर जानो। इति।

यह कैसे किया जाता है, उसके लिये विधि भी बताते हैं—

यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञानआत्मनि।
ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि।
उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत॥ (कठोपनिषत्)

अर्थ—बुद्धिमान् वाक् (पांचों ज्ञानेन्द्रियों) को मन में लें जावे, मन को बुद्धि में, बुद्धि को महत् में और उसको शान्त आत्मा में ले जावे। उठो, जागो और श्रेष्ठ जनों को प्राप्त करके इसे जानो।

(२) गुरु-कृपा

इस योग की प्राप्ति कैसे होती है? योगशिखोपनिषद् में शिवजी ब्रह्माजी से कहते हैं—

पश्चात्पुण्यवशाल्लभते सिद्धेन सह संगतिम्।
तत सिद्धस्य कृपया योगी भवति नान्यथा॥

अर्थ—(जन्म जन्मान्तर के) पश्चात् पुण्य के प्रभाव से सिद्ध के साथ संग होता है, तब सिद्ध की कृपा से योगी होता है, अन्यथा नहीं।

सिद्ध महात्मा की कृपा जो दृष्टि, स्पर्श अथवा मंत्र चैतन्य द्वारा होती है, उसको शक्तिपात (वेध) या महादीक्षा कहते हैं। इसीलिये इस योग का नाम सिद्ध, सहज या महायोग प्रसिद्ध है।

दर्शनात् स्पर्शनात् शब्दात् कृपया शिष्य देहके।
जनयेद् य समावेशम् शाम्भवम् स हि देशिक ॥

(योगवासिष्ठ)

अर्थ—दर्शन, स्पर्श अथवा शब्द (मन्त्र प्रदान या अन्य किसी वाक्य) द्वारा जो कृपापूर्वक शिष्य के शरीर में शांभव समावेश (मंगलमय भाव) प्रकट करे, वही देशिक (गुरु) है।

गुरो रालाक्मानेण स्पशात् संभाषणादपि।
सद्य सज्ञा भवेज्जंतो दीक्षा सा शाम्भवी मता ॥

(वायवीय संहिता)

अर्थ—गुरु की दृष्टि, स्पर्श अथवा वाक्य द्वारा एक प्रकार का सद्य ज्ञान (अर्थात् मेरे अन्दर एक प्रकार की विशेष शक्ति का प्रादुर्भाव हुआ है—ऐसा प्रत्यक्ष अनुभव) उत्पन्न होता है। उसी को शांभवी (मंगलमयी) दीक्षा कहते हैं।

नाना मार्गस्तु दुष्प्राप्यं कैवल्य परम पदम्।
सिद्धिमार्गेण लभ्येत नान्यथा पद्मसंभव ॥ (यो० शि०)

अर्थ—कैवल्य पद नाना मार्गों से भी दुष्प्राप्य है। हे ब्रह्मा जी ! यह सिद्ध मार्ग से प्राप्त होता है, अन्यथा नहीं।

शक्तिपात द्वारा गुरु शिष्य की कुण्डलिनी शक्ति को जाग्रत करते हैं। गुदा और उपस्थ के मध्य म योनिस्थान है जिसको शिशिस्थान भी कहते हैं। योनिस्थान के ऊपर मेरुदण्ड के पास एक अण्डाकृति मास पेशी है। उसके नाभि (केन्द्र) मे एक गाठ है जिसको अंग्रेजी म Ganglion in par कहते हैं और संस्कृत म उस मांसपशी को कन्द कहते हैं। इस गाठ म से इडा, पिंगला और सुषुम्णा नाडिया निकलती है। पहली दो मेरुदण्ड के बाहर हैं जिनको (Sympathetic Columns) कहत हैं और तीसरी सुषुम्णा (Spinal Cord) भीतर है। प्राणशक्ति का प्रवाह सुषुम्णा म होकर ब्रह्मरंध्र मे पहुचता है, तब समाधि लगा करती है। सुषुम्णा मे छ स्थान ऐसे हैं जो नाडियों के उद्गम स्थान कहे जा सकते हैं और वे नाड़िया बाहर आकर जाल बनाती हैं। अंग्रेजी मे उनको Plexuses कहते हैं और योगी उनको चक्र या पद्म कहते है। गुदा के निकट मूलाधार पृथ्वी तत्व का चक्र, उपस्थ के पास स्वाधिष्ठान जल तत्व का चक्र, नाभि के पास मणिपूर अग्नि तत्व का चक्र, हृदय म अनाहत् वायु तत्व का चक्र ग्रीवा मे विशुद्ध आकाश तत्व का चक्र और भृकुटि मे आज्ञा नाम का मन से सम्बन्ध रखने वाला चक्र है। ऊपर मस्तक मे सहस्रार (Cerebrum) है। प्राणशक्ति का प्रवाह होन पर उक्त शक्ति छहा चक्रों को चीरती हुइ सहस्रार म चढती है। तब पाचा तत्वा से सम्बन्ध रखने वाली गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्दात्मक

मन को साथ लेकर, बुद्धि सहित अपने अपने कारणों में लीन हो जाती हैं और निर्बीज समाधि लग जाती है। यह समाधि अन्तर और बहिर् (अन्दर और बाहर) दोनों प्रकार की होती है। ज्ञानियों को सदा बहिस्समाधि रहा करती है। तब मन में संकल्प विकल्प निर्मूल हो जाते हैं, वासनाओं का नाश हो जाता है और आत्मस्थिति के कारण परम सन्तोष एवं शान्ति का उदय होता है। आत्मानन्द का प्रकाश फैलता है। संसार के समस्त सुख-दुःखमय द्वन्द्व जाल नष्ट हो जाते हैं। वह ज्ञानी कर्म करता हुआ भी जीवन्मुक्त कहलाता है। उस पर पद्मपत्रवत् संसार-सागर के जल का स्पर्श नहीं होता। कन्द में प्राणशक्ति सुप्त (Potential) रहती है। जब तक यह सोई होती है, मन तथा बुद्धि सहित इन्द्रियां बहिर्मुख रहती हैं और जागने पर अन्तर्मुख होने लगती हैं। इस शक्ति को ही कुण्डलिनी शक्ति कहते हैं। यह चेतन शक्ति है और एक होती हुई भी सब जीवों में व्याप्त है।

या देवी सर्वभूतेषु चितिरूपेण संस्थिता। नमस्तस्यै ३ नमोनमः ॥ (दु०स०)

अर्थ—जो देवी सब जीवों में चिति रूप से स्थित है, उसको नमस्कार है, नमस्कार है, नमस्कार है, बारंबार नमस्कार है।

जाग्रत होने पर वह शक्ति विद्युतवत् सुषुम्णा में प्रवेश करने लगती है। सिद्ध गुरु इसको जगा देते हैं और शिष्य का मोक्ष मार्ग खोलकर उस पर अपार अनुग्रह करते हैं जिसका बदला शिष्य कदापि किसी प्रकार से नहीं चुका सकता, क्योंकि यह विद्या अमूल्य है। सांसारिक पदार्थ इसके मूल्य नहीं हो सकते।

* षट्-चक्र *
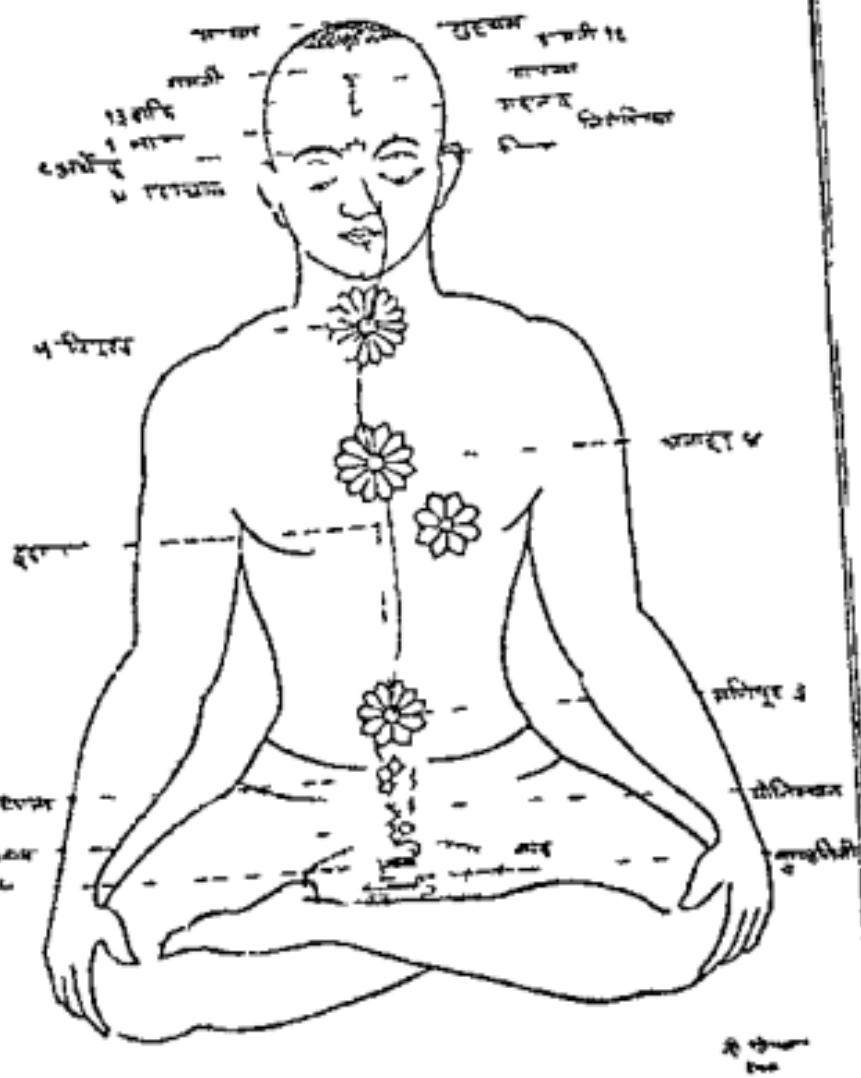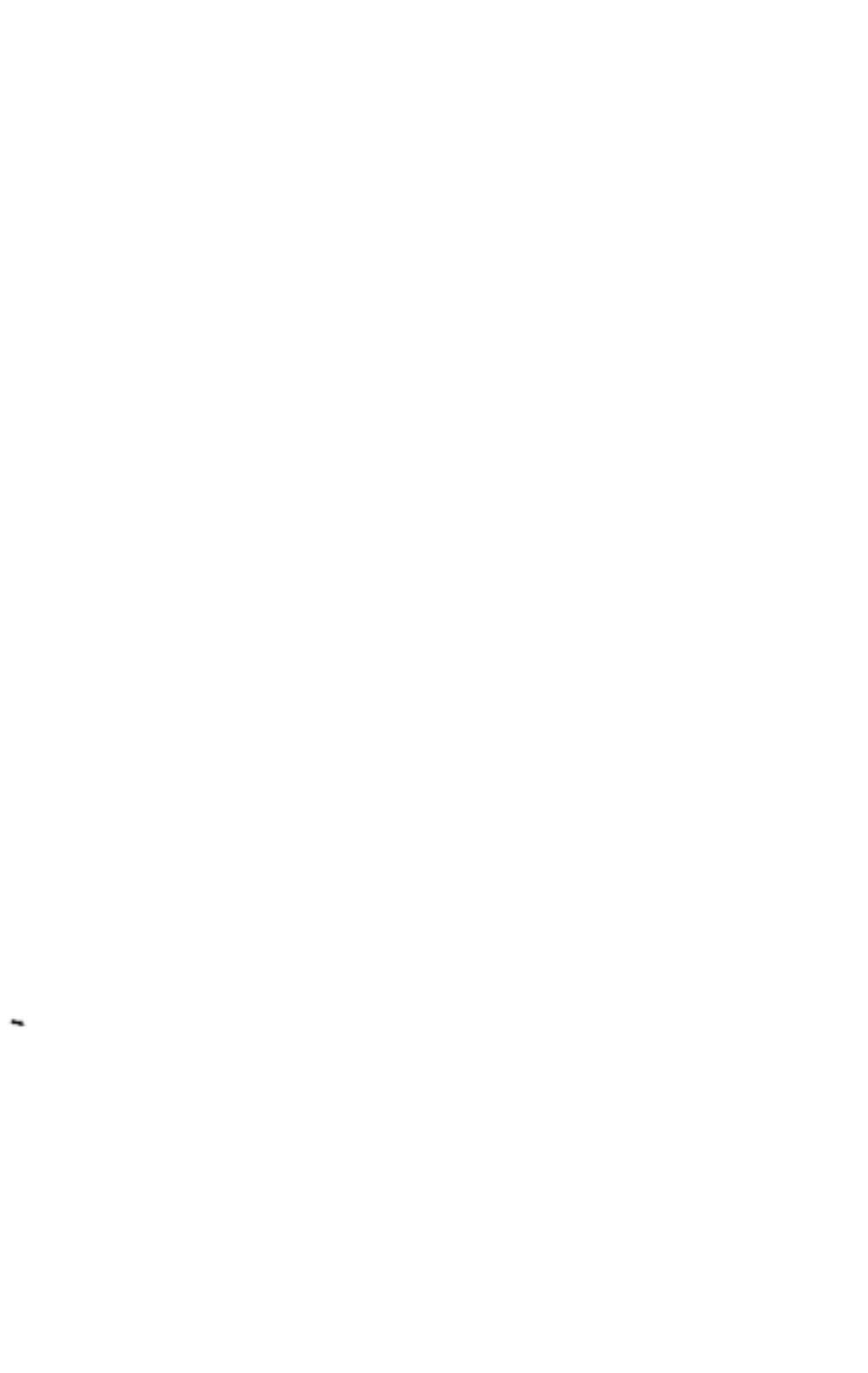
कुण्डलिनी के जागने पर प्राणशक्ति स्वतः काम करने लगती है। यह शक्ति नाड़ियों (nervous system) में विद्युच्छक्ति (electric current) की तरह प्रवाहित हुआ करती है, परन्तु उसमें विशेषता इतना है कि वह विद्युत् (electricity) की तरह जड़ नहीं है, बल्कि सब कुछ जानती-समझती है। अतः फुफ्फुस (lungs) में आने जाने वाले वायुमात्र को प्राण समझना भूल है। सिद्ध योग के साधकों को प्राणशक्ति का प्रवाह शीघ्र समझ में आने लगता है, क्योंकि यह अनुभव की बात है। प्राण अति सूक्ष्म शक्ति है। इसका अनुभव स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण,—तीनों शरीरों में होता है। यह स्थूल शरीर को सूक्ष्म से और सूक्ष्म शरीर को कारण शरीर से संयुक्त करती है। इस लिए प्राणजय होने से इन्द्रिया, मन और बुद्धि सब वश में हो जाते हैं।

स्थूल शरीर को अन्नमय कोष, प्राणों की गति का स्थान होने के कारण नाड़ियों (nervous system) में प्रवाहित शक्ति को प्राणमय कोष, मन से संबंध रखने वाले कोष को मनोमय, बुद्धि के कोष को विज्ञानमय और तदनंतर सुषुप्ति अवस्था तथा कारण शरीर को आनन्दमय कोष कहते हैं। पाचों कोषों में परस्पर सम्बन्ध जोड़ने का काम प्राणशक्ति का है। जिस प्रकार प्राणशक्ति स्थूल शरीर अर्थात् अन्नमय कोष को क्रिया तथा ज्ञानशील करती है, उसी तरह मन में संकल्प विकल्प एवं वासनाओं की तरंग उत्पन्न करती है और बुद्धि को प्रेरित करती है। बुद्धिपटल पर जो संस्कार अङ्कित होते रहते हैं, उनसे इस जन्म में स्मृति और भावी जन्म के लिए

शरीर बनता है। अर्थात इस जन्म के कारण शरीर म गत जन्मो के संस्कारों का कोष है और उक्त संस्कार भी प्राणशक्ति के अधीन संचित रहते हैं। अत समाधि के समय प्राणवश होने से कारण शरीर मे भी संस्कारा का संचय क्षीण होकर ऋतम्भरा प्रज्ञा प्रकाशित होती है। इस प्रकार कुण्डलिनी शक्ति जागकर स्थूल, सूक्ष्म और कारण —तीना शरीरो को शनै शनै ढीला करके, मू ज से सींक के सदृश आत्मा को अलग कर देती है।

तस्माद्योग तमेवादौ साधको नियमभ्यसेत्।
मुमुक्षुभि प्राणजय कर्तव्यो मोक्षहेतवे ॥ (यो० शि०)

इसलिए साधक पहले इस योग का नित्य अभ्यास करे। मोक्ष की इच्छा करने वाला को मोक्ष के हेतु प्राणजय करना चाहिये।

द्वे बीजे चित्तवृक्षस्य प्राणस्पन्दनवासने।
एकस्मिश्च तयो क्षीणे क्षिप्र द्वे अपि नश्यत ॥ (यो० वा०)

चंचल प्राण और वासना—ये दोना चित्तरूपी वृक्ष के बीज है। इन दोना मे से किसी एक का क्षय होते ही दोना का क्षय हो जाता है।

(३) श्रद्धा

साधन की शक्ति, गुरु और ईश्वर,—तीना मे श्रद्धा और भक्ति होनी आवश्यक है। यह शक्ति सब समझती है, इसलिये शक्ति और गुरु का अपमान कभी नहीं करना या सोचना चाहिये तथा ईश्वर मे श्रद्धा भक्ति और ज्ञान होना चाहिये। गुरु म जितनी श्रद्धा और भक्ति होगी, उतनी ही जल्दी यह शक्ति फलीभूत होगी।

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते [illegible]

अर्थ—जिसकी देव में पराभक्ति है और जैसी देव में वैसी ही गुरु में है, उस महात्मा को जो कहा गया है उसके अर्थ प्रकाशित होते हैं।

यदि किसी कारण से शक्ति और गुरु का निरादर या इनमें संदेह या नास्तिकता का भाव चित्त में आ जायगा तो तत्क्षण क्रियायें ठिठक जायेंगी और उन्नति में विघ्न उपस्थित होने की आशंका होगी। ऐसा जानकर प्रथमाभ्यास में प्रकट होने वाले संशय आदि विघ्नों को सावधानी से हटाते रहना चाहिये।

(६) स्थान

अभ्यास के निमित्त स्थान स्वच्छ, एकान्त और रमणीक होना चाहिये। घर में अभ्यास के निमित्त एक अलग कमरा निश्चित कर लेना उचित है। उसमें नौकर, बालक या अन्य व्यक्ति को जाने की आज्ञा नहीं होनी चाहिये, परन्तु किसी साधक के जाने से कोई हानि नहीं। यदि हो सके तो वह कमरा अभ्यास के लिए ही काम में लाया जाय, अपने सोने-बैठने का कमरा भी अलग रहे तो अच्छा है। जिस कमरे में अभ्यास किया जाता है उसका वायुमंडल शक्ति से भर जाता है और उसको दूसरे काम में लाने से वह वायुमंडल दूषित हो जाता है। स्थान गर्मी में शीतल और जाड़े में गर्म रहना चाहिये। निकट में किसी प्रकार की दुर्गंध नहीं चाहिये। उस स्थान को धूप या अगरबत्ती जलाकर सुवासित रखना चाहिये। पुष्पों के गमले, गुलदस्ते और सुगंधित पुष्प अभ्यास के लिये सहायक होते हैं। कमरे में धुवां नहीं होना चाहिये। वह स्थान मच्छर, खटमल, पिस्सू, चींटी,

शरीर कहलाता है। अर्थात् इस जन्म के कारण शरीर में गत जन्मों के संस्कारों का कोष है और उक्त संस्कार भी प्राणशक्ति के अधीन संचित रहते हैं। अतः समाधि के समय प्राणवश होने से कारण शरीर में भी संस्कारों का संचय क्षीण होकर ऋतम्भरा प्रज्ञा प्रकाशित होती है। इस प्रकार कुण्डलिनी शक्ति जागकर स्थूल, सूक्ष्म और कारण,—तीनों शरीरों को शनैः शनैः ढीला करके, मूँज से सींक के सदृश आत्मा को अलग कर देती है।

तस्मात्योगं तमेवादौ साधको नियमभ्यसेत्।
मुमुक्षुभिः प्राणजयः कर्त्तव्यो मोक्षहेतवे॥ (यो० शि०)

इसलिए साधक पहले इस योग का नित्य अभ्यास करे। मोक्ष की इच्छा करने वालों को मोक्ष के हेतु प्राणजय करना चाहिये।

द्वे बीजे चित्तवृक्षस्य प्राणस्पन्दनवासने।
एकस्मिंश्च तयोः क्षीणे क्षिप्रं द्वे अपि नश्यतः॥ (यो० वा०)

चंचल प्राण और वासना—ये दोनों चित्तरूपी वृक्ष के बीज हैं। इन दोनों में से किसी एक का क्षय होते ही दोनों का क्षय हो जाता है।

(३) श्रद्धा

साधन की शक्ति, गुरु और ईश्वर,—तीनों में श्रद्धा और भक्ति होनी आवश्यक है। यह शक्ति सब समझती है, इसलिये शक्ति और गुरु का अपमान कभी नहीं करना या सोचना चाहिये तथा ईश्वर में श्रद्धा भक्ति और प्रेम होना चाहिये। गुरु में जितनी श्रद्धा और भक्ति होगी, उतनी ही जल्दी यह शक्ति फलीभूत होगी।

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥ (श्वेता० उप०)

अर्थ—जिसकी देव में पराभक्ति है और जैसी देव में वैसी ही गुरु में है, उस महात्मा को जो कहा गया है उसके अर्थ प्रकाशित होते हैं।

यदि किसी कारण से शक्ति और गुरु का निरादर या उनमें संदेह या नास्तिकता का भाव चित्त में आ जायगा तो तत्क्षण क्रियायें ठिठक जायेंगी और उन्नति में विघ्न उपस्थित होने की आशंका होगी। ऐसा जानकर प्रथमाभ्यास में प्रकट होने वाले संशय आदि विघ्नों को सावधानी से हटाते रहना चाहिये।

(९) स्थान

अभ्यास के निमित्त स्थान स्वच्छ, एकान्त और रमणीक होना चाहिये। घर में अभ्यास के निमित्त एक अलग कमरा निर्दिष्ट कर लेना उचित है। उसमें नौकर, बालक या अन्य व्यक्ति को जाने की आज्ञा नहीं होनी चाहिये, परन्तु किसी साधक के जाने से कोई हानि नहीं। यदि हो सके तो वह कमरा अभ्यास के लिए ही काम में लाया जाय, अपने सोने बैठने का कमरा भी अलग रहे तो अच्छा है। जिस कमरे में अभ्यास किया जाता है उसका वायुमंडल शक्ति से भर जाता है और उसको दूसरे काम में लाने से वह वायुमंडल दूषित हो जाता है। स्थान गर्मी में शीतल और जाड़े में गर्म रहना चाहिये। निकट में किसी प्रकार की दुर्गंध नहीं चाहिये। उस स्थान को धूप या अगरबत्ती जलाकर सुवासित रखना चाहिये। पुष्पों के गमले, गुलदस्ते और सुगंधित पुष्प अभ्यास के लिये सहायक होते हैं। कमरे में धूवां नहीं होना चाहिये। वह स्थान मच्छर, खटमल, पिस्सू, चींटी, मकोड़े आदि से

सुरक्षित रहना चाहिये। फर्श धुलना या गोबर-मिट्टी से लिपना चाहिये। दीवारों पर जाले या मिट्टी नहीं रहनी चाहिये। लिपा पुता, स्वच्छ, चित्त को प्रसन्न रखने वाला कमरा होना चाहिये। कमरे में अपने आसन और गुरु, इष्टदेवादि की तस्वीरों के अतिरिक्त कुछ नहीं रखना चाहिये। कम्बल को दोहरा करके या नीचे गद्दा बिछाकर उस पर स्वच्छ चद्दर या कम्बल बिछाकर पांच-छ फुट लंबा चौड़ा गुदगुदा, नरम आसन बिछाना चाहिये। गद्दे से कम्बल अच्छा होता है। जाड़ा म ओढ़ने के लिये एक कम्बल और गर्मी मे भी एक चादर पास रहनी चाहिये।

अभ्यास के समय कम से कम वस्त्र पहिनने चाहियें। धोती के बजाय लंगोट रखना चाहिये और कुर्ता आदि ढीला होना चाहिये, परन्तु नंगे बैठना और ठंड के लिये चादर ओढ़ना अच्छा है। नाक पोंछने या थूकने के लिये आसन के पास रूमाल रखना चाहिये जिसको रोज धोना आवश्यक है। अभ्यास के समय लैंप, दीपक या किसी प्रकार का प्रकाश नहीं रखना चाहिये।

(५) आहार-विहार

अपने पहिनने के वस्त्र अलग रखने चाहियें। अपने वस्त्र दूसरों को नहीं देने चाहिये और दूसरों के वस्त्र आप नहीं बरतने चाहियें। अपने सोने का बिस्तरा भी अलग रखना चाहिये। भोजन यथारुचि मिताहार पथ्य होना चाहिये। अधिक भोजन करना जैसा हानिकर है, वैसा ही अनशन व्रत करना अथवा कुछ न खाना भी साधन में बाधक होता है।

चौथाई पेट खाली रखकर, शिवजी की प्रीति के निमित्त जो चिकना मधुर आहार किया जाता है वह मिताहार कहलाता है।

दिन में कई बार भोजन करना उचित नहीं। दो बार भोजन करना उचित है। यदि बहुत भूख लगती हो तो दोपहर में कुछ नाश्ता कर सकते हैं।

गेहूं, चावल, जौ, साठी चावल दूध घी, खांड मक्खन, मिश्री, मधु (शहद), सोंठ इलायची, परवल, खीरा, बैंगन, तुरई, चालई, मूंग, अरहर पथ्य पदार्थ हैं। प्रथम अभ्यास में गाय का दूध घी बहुत लाभदायक है। पौष्टिक, मधुर, चिकने पदार्थ, गाय का दूध, घी, धातुओं को पोषण करने वाला मन को रुचिकर, योग्य भोजन खाना चाहिये।

कड़वा, खट्टा, चरपरा अति नमकीन, गरम, खांड, अचार, तेल, सरसों, मदिरा, मछली, मांस, दही, छाछ, बेर, हींग, प्याज, लहसुन, दुबारा गरम किये भोजन, रूखा, जलन पैदा करने वाले, तामसी भोजन त्याज्य हैं। इनको न खावें।

कट्वम्ल लवण त्यागी क्षीर पान रत सुखी।
मिताहारी ब्रह्मचारी योगी योग परायण ॥ (ध्यान बिन्दू०)

अर्थ—कड़वे, खट्टे, नमकीन पदार्थों को छोड़कर दूध पीने वाला, सुखी, मिताहारी, ब्रह्मचारी योगी योग-परायण होता है।

योगी को अग्नि का तापना, यात्रा करना (पैदल सफर करना), व्यायाम करना, सवेरे प्रातःकाल स्नान करना, उपवासादि से शरीर को कष्ट देना वर्जित है। अभ्यास से उठकर कुछ

आसन को उपयुक्त प्रकार से कमर के बीच में गोवारा से हटाकर बिछाना चाहिये। पहिले हाथ जोड़कर बायें कान की ओर गुरु को प्रणाम करे और ध्यान करे कि वे हमको शक्ति प्रदान कर रहे हैं। फिर दक्षिण कान की ओर विघ्न विनाशक गणपति का ध्यान करे। फिर भ्रूमध्य में इष्टदेव और शक्ति का ध्यान करना चाहिये। क्रियायें आरम्भ होने पर ध्यान की आवश्यकता नहीं रहती। गुरु से प्राप्त मंत्र का जप करते रहना चाहिये। यह मंत्र चेतन होता है और शक्ति देता है। इस मंत्र का जप स्वतः भी हो सकता है। क्रियाओं में जप का अवलम्बन रखना अच्छा है।

आरम्भ में पूर्वाभिमुख या उत्तराभिमुख बैठना चाहिये। तदन्तर क्रियायें होते समय यह नियम न निभे तो कोई परवाह नहीं करनी चाहिये क्योंकि फिर किसी भी दिशा में मुख करके बैठने से क्रियायें सफल होती हैं।

क्रियायें सबको एक सी नहीं होतीं। प्रत्येक व्यक्ति की क्रियायें उसके संस्कारानुकूल प्रकट होती हैं, परन्तु उन सबका फल राजयोग की प्राप्ति है। प्रथम अवस्था में आसन, प्राणायाम, मुद्रायें, बंध और ध्यान द्वारा चित्त की एकाग्रता होती है। क्रमशः मंत्रयोग, लययोग, हठयोग तथा राजयोग—चारों का प्रादुर्भाव होता है।

साधक को यम नियम का पालन करना आवश्यक है और शेष षष्ठांग योग स्वतः होता है। वास्तव में क्रियाओं का फल तो ऐसा है कि यम नियम का पालन भी स्वतः सिद्ध होने लगता है, परन्तु इसके पालन में सतर्क रहना चाहिये।

देवगना, स्त्रियां, बालक, बालिकायें, सूर्य, चन्द्र, तारे, भिन्न भिन्न ज्योतियां, आगन, नदी, समुद्र, तालाब, पर्वत, जल, गाय, घोड़ा, सिंहादि पशु, पक्षी, सर्प, वृक्ष, अन्न पुष्प, फल, दूध, घी, प्रियजन, गृहदाह, अपने शरीर का दाह, इष्ट मंत्रों के सिवाय अन्य मंत्रों का श्रवण तथा प्राप्ति, इष्ट देवता को छोड़कर अन्य देवताओं के भी दर्शन इत्यादि का अनुभव प्रत्यक्ष या परोक्ष में होता है।

उत्तम या कारण शरीर की क्रियायें—

आनन्द, संकल्प विकल्प का अभाव, शांति तत्व अनुसंधान, तत्व विचार, भक्ति, निष्काम कर्म करने का कौशल, ब्रह्मज्ञान।

क्रिया के समय कुत्ता, बिल्ली, सिंह के शब्दों के उच्चारण हों या ऊँचे स्वर से अन्य शब्द हों, ओंकार की उच्च ध्वनि हो, हंसना या रोना आय तो उनसे भय, लज्जा नहीं करनी चाहिये, उनको रोकना नहीं चाहिये, नहीं तो शक्ति का पूरा विकास नहीं होगा। राम-कृष्णादि नामों का गान, संकीर्तन, गाने में कुशलता, स्तोत्रादि का पाठ इत्यादि होना अच्छा है। इनको रोकना नहीं चाहिये।

भय लगे तो डरना नहीं चाहिये, उससे अमंगल की आशंका नहीं करनी चाहिये। यही धारणा रखना चाहिये कि तुम्हारे कल्याण के लिए देवता परोक्ष में नाना प्रकार के भय या चमत्कार दिखा रहे हैं। डर के समय इष्ट मंत्र का जप करना चाहिये और गुरु का ध्यान करना चाहिये।

मंत्रयोग प्रकट होने पर मंत्रशक्ति का अनुभव होता है। मंत्र जप करते-करते गिरने से यदि निद्रा आ जाय तो उसको

याना नहीं समझना चाहिये। जागने पर स्वत मंत्र का जप होने लगता है।

क्रिया में निद्रा का आना अत्यन्त शुभ लक्षण है, परन्तु आलस्य के वश मे होकर नहीं सोना चाहिये। शरीर की क्लान्ति को दूर करने के लिये निद्रा आती है और क्रियाओं को प्रोत्साहन देती है।

नसों से जल गिरना, छाती म धड़कन करना, शरीर का चौंकना, कंप होना क्रिया के लक्षण हैं। इनसे किसी प्रकार की बुरी आशंका नहीं करनी चाहिये।

शरीर मे तकलीफ, रोग, व्याधि प्रकट हो तो वे क्रिया के जारी रखने से स्वत शांत हो जायेंगे। औषध का प्रयोग नहीं करना चाहिये। विष या रसायनिक तीव्र औषधियों का प्रयोग तो कदापि नहीं करना चाहिये। व्याधि के प्रकट होने के दो कारण समझने चाहिये—आहार विहार मे गड़बड़ या शरीर मे गुप्त रूप से उक्त व्याधि का होना। क्रिया उसको प्रकट करके निकाल देती है। जुकाम का प्रकट होना कफ गिरना इत्यादि होता है। कफ को निगलना नहीं चाहिये परन्तु जिह्वा में पानी आता हो तो उसको नहीं थूकना चाहिये।

क्रिया के समय लंगोट या कोपीन अवश्य रखनी चाहिये। धोती ढीली रहने से क्रियाओं में बाधा पड़ने की आशंका होती है।

मल-मूत्र का वेग नहीं रोकना चाहिये, साधन के समय भी उठकर शंका निवारण कर लेनी चाहिये।

रूप हो जाती है। विघ्न तीन प्रकार के कहे जा सकते हैं—(१) शारीरिक तथा मानसिक निर्बलता से होने वाले (२) परीक्षाय (३) सिद्धियां। पतंजलि महर्षि ने ६ अन्तरायों अर्थात् विघ्नों का वर्णन किया है—

व्याधि—शरीर में धातु तथा रसों की विषमता के कारण।

स्त्यान—अकर्मण्यता।

संशय—नाना प्रकार के संदेह होते हैं, शक्ति और गुरु में अश्रद्धा होती है और नास्तिकता आ जाती है।

प्रमाद—साधनों में प्रयत्न की शिथिलता।

आलस्य—तमोगुण, कुपथ्य के कारण।

अविरति—विषय तृष्णा के कारण योग से चित्त का हटना।

भ्रांतिदर्शन—उटपटांग देखना-सुनना, विपर्यय दर्शन (जैसे रस्सी में सर्प)।

अलब्धभूमिकत्व—यत्न होने पर भी उन्नति न होना।

अनवस्थितत्व—ऊपर की भूमिका पर पहुँचकर नीचे गिरना।

यह अन्तराय विघ्न अवश्य हैं, परन्तु ध्यान रखना चाहिए कि यह तो हमारी शारीरिक तथा मानसिक कमजोरियों के कारण प्रकट होते हैं और उन कमजोरियों या दोषों के दूर होने पर अदृश्य हो जाते हैं। कमजोरियों के दूर होने तक स्थायी (permanent) उन्नति होनी असम्भव है। शरीर, प्राण, मन, बुद्धि जितने संगठित बलवान और दोष हीन होते जायेंगे उतनी ही उत्तरोत्तर उन्नति होती जायगी।

इनसे साधक की योग्यता की परीक्षा भी होती रहती है और

दैवी परीक्षायें भी होती रहती हैं, वे भी विघ्नरूप होती हैं। परंतु क्रियायें इन सब कमजोरियों को, काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर, अहंकार, भय, राग, द्वेष, इर्षा इत्यादि सब आसुरी सम्पत्तियों को उभार-उभार कर, उनके साथ युद्ध कर-करके मार डालती हैं। जब यह युद्ध आरम्भ होता है, तब साधक के लिये बड़े साहस धैर्य, उत्साह की जरूरत होती है क्योंकि इस समय चित्त में सदा क्षोभ बना रहता है और आसुरी सम्पत्ति के वेग के प्रकट होने से व्याकुलता रहती है। यह संग्राम ही बड़ी बहादुरी का संग्राम होता है, परंतु कुण्डलिनी शक्तिरूपी सद्गुरु सबको एक-एक करके निकाल देती है। तब स्थायी शांति प्रकट होती है।

सिद्धियां भी विघ्न हैं। इनमें फंसकर उन्नति रुक जाती है। मार्कण्डेय पुराण में ऐसे पांच विघ्नों का उल्लेख आता है— (१ प्रतिभा (२) श्रवण (३) दैव (४) भ्रम (५) आवर्त। वेद, काव्य, शास्त्रों के अर्थ प्रकट होना, नाना प्रकार की शिल्प विद्यायें आना प्रतिभा विघ्न है। सब शब्दों का अर्थ समझना, दूर के अर्थात् मीलों दूर के शब्द सुनना श्रवण विघ्न है। देवता के समान जब योगी सब तरफ देखता है अर्थात् उन्मत्ततुल्य प्रतीत होने लगना दैव विघ्न है। मन के दोष से सब भ्रमयुक्त दिखने लगता है, यह भ्रम विघ्न है। ज्ञान के प्रकट होने से चित्त का नाश होता है अर्थात् चित्त घबराकर मूर्च्छा हो जाता है, यह आवर्त विघ्न कहलाता है। मार्कण्डेय पुराण में ही इन विघ्नों की शांति के निमित्त उपाय बताया गया है कि सब में ब्रह्म की भावना रखने से यह शांत हो जाते हैं। इस प्रकार —

के ध्यान से, ईश्वर की शरण में जाने से विघ्नों का नाश होता है।

अनुभवों को प्रकट करने की इच्छा भी विघ्न है। स्वप्न में जो दर्शन हो, उनको भी प्रकट नहीं करना चाहिए। संदेहों को गुरु या क्रिया करने वाले साधकों से ही पूछकर दूर करना चाहिये।

शक्ति प्राप्त करके ही अपने को कृतार्थ नहीं समझ बैठना चाहिये। उत्तम, मध्यम, निकृष्ट तथा अधम अधिकारी को क्रम से कम-से कम ३ वर्ष, ६ वर्ष, ९ वर्ष तथा १२ वर्ष तक के अभ्यास की आवश्यकता है। श्रद्धापूर्वक, भक्ति के साथ, आदर सहित, धैर्य से निरंतर अभ्यास करते रहना चाहिए और योग तथा वेदांत के शास्त्रों का पठन, मनन, निदिध्यासन करते रहना चाहिए।

दूसरों के योग की नकल करके इधर उधर नहीं भटकना चाहिये। दैनन्दिनी में अपना वृतान्त और अनुभव लिखते रहने से बहुत लाभ होता है। जब कम होने पर उनको पढ़ने से धैर्य और शक्ति बढ़ती है॥ ॐ तत्सत्॥

ॐ शान्ति शान्ति शान्ति